

# सुनील जाना : वो फोटोग्राफर जिसकी तस्वीरों में भारत का इतिहास बोलता है



बंगाल के अकाल की विभीषिका से लेकर महात्मा गांधी और जिन्ना की हंसी तक तमाम ऐतिहासिक पल कैद करने वाले सुनील जाना के लिए फोटोग्राफी उनका राजनीतिक बयान भी थी

पिछली सदी की तमाम महत्वपूर्ण घटनाओं को हम जिन तस्वीरों की मार्फत जानते-समझते आए हैं, और जो हमारे अवचेतन का हिस्सा भी हैं, उनके फोटोग्राफर के तौर पर सुनील जाना का नाम मगर बहुतों की स्मृति में नहीं मिलता. छह दशक से ज्यादा समय तक सक्रिय रहे सुनील जाना की तस्वीरें गुजरे वक़्त का ऐसा आख्यान हैं, जिन्हें ढंग से सुना-गुना जाना अभी बाक़ी है. बंगाल, उड़ीसा और आंध्र प्रदेश का अकाल, आज़ादी की लड़ाई के तमाम अहम मक़ाम और नेताओं की छवियां, आदिवासियों की जीवन-संस्कृति और ऐतिहासिक महत्व की जगहों की बहुतेरी तस्वीरें उन्हीं के उद्यम का नतीजा हैं.

बंगाल के अकाल की तस्वीरों ने सुनील जाना को दुनिया भर में पहचान दी. और अगर आपने वामिक्र जौनपुरी की नज़्म 'भूका बंगाल' पढ़ी है तो इन तस्वीरों को देखते हुए आपको वह नज़्म बरबस ही ज्यादा अच्छे से समझ में आने लगती है – 'पुरखों ने घर बार लुटाया छोड़ के सब का साथ/ माएं रोई बिलख बिलख कर बच्चे भए अनाथ/ सदा सुहागन बिधवा बाजे खोले सर के बाल रे साथी...' ये तस्वीरें अकाल की भयावहता के साथ ही बेरहम निज़ाम के आगे अवाम की बेबसी का ऐसा दस्तावेज़ हैं जिसकी इबारत इतने अर्से के बाद भी एकदम चटख़ है.

सुनील जाना की पैदाइश डिब्रूगढ़ में हुई मगर वे पले-बढ़े कलकत्ता में. उन दिनों वे प्रेसिडेंसी कॉलेज से अंग्रेज़ी में एमए कर रहे थे, स्टूडेंट फ़ेडरेशन में सक्रिय थे और शौकिया तस्वीरें भी खींचा करते थे जब सीपीआई के महासचिव पीसी जोशी ने उन्हें अकाल प्रभावित इलाकों के दौरे पर साथ चलने का प्रस्ताव किया. यह बात सन् 1943 की है. जोशी रिपोर्ताज लिखते, चित्तप्रसाद रेखाचित्र बनाते और सुनील फोटो खींचते. सीपीआई के जर्नल 'पीपुल्स वॉर' में छपी सुनील जाना की तस्वीरों ने देश भर में लोगों की चेतना को झकझोर दिया. तब तक अखबारों में छपने वाली छिटपुट खबरों से लोगों को अकाल की इस विभीषिका का बिल्कुल अंदाज़ा नहीं था. लोगों को अकाल की असलियत और इसकी गंभीरता का पता चला और इन तस्वीरों के हवाले से सुनील जाना को भी पहचाना गया.

कृशकाय महिलाओं-बच्चों और बूढ़ों के आभाहीन चेहरों में धंसी हुई आंखों वाली तस्वीरों में जीवन की

याचना और आसन्न मृत्यु की आहट एक साथ महसूस की गई. यों इनमें से कई तस्वीरों के कार्ड बनाकर दुनिया भर में भेजे गए ताकि स्थिति की गंभीरता बताने के साथ ही अकाल पीड़ितों के लिए मदद जुटाई जा सके. मगर खुद सुनील जाना के लिए यह बेहद परेशान करने वाला अनुभव था. बाद में उन्होंने अपना तजुर्बा साझा करते हुए कहा था, 'वहां लोग भूख से बिलबिला रहे थे, मर रहे थे और मैं उनकी तस्वीरें खींच रहा था. उनकी दुःख-तकलीफ़ भरी ज़िंदगी में यह अनधिकृत घुसपैठ करने जैसा था. सचमुच मैं उनके लिए कुछ करना चाहता था और इसीलिए उन लोगों से ईर्ष्या भी होती, जो उन्हें तकलीफ़ों से निजात दिलाने के लिए राहत के किसी काम में लगे थे. इससे मेरा क्लेश और बढ़ जाता फिर भी तस्वीरें बनाने में लगे रहने की ताकत यही थी कि मेरे आसपास जो घट रहा था, उसका कोई रिकॉर्ड ज़रूरी है और तस्वीरें यह काम बखूबी कर सकती हैं.'



सुनील जाना ने बंगाल के अकाल की जो तस्वीरें खींची उनसे ही दुनिया को इस त्रासदी की भयावहता का अंदाजा हुआ

बाद में चित्रकार चित्तप्रसाद के साथ वह बम्बई के कम्यून में रहने चले गए. सीपीआई के कार्ड होल्डर हो चुके थे मगर मुस्लिम लीग और कांग्रेस के राजनीतिक जलसों की तस्वीरें खींचने के लिए भी वे बुलाए जाते. और पार्टी से उन्हें इसकी इजाज़त मिल गई थी. उस दौर के कम्युनिस्ट नेताओं के साथ ही दूसरे दलों के शीर्ष नेताओं से भी उनके आत्मीय रिश्ते रहे. गांधी, नेहरू, जिन्ना, शेख अब्दुल्ला और विजयलक्ष्मी पंडित के कई अनौपचारिक और यादगार पोट्रेट उन्होंने बनाए. आनंद भवन में खम्भे से लगकर खड़े नेहरू या जिन्ना के कंधे पर हाथ रखे गांधी की तस्वीरें ऐसी ही हैं. उनकी तस्वीरें आज़ादी के आंदोलन का महत्वपूर्ण दस्तावेज़ बन गईं. यह उनकी शोहरत का असर था कि 'लाइफ़' की फ़ोटोग्राफ़र मार्गरेट व्हाइट-बर्क ने हिन्दुस्तान में काम करने के दौरान उन्हें साथ चलने का आग्रह किया. हिन्दुस्तान के स्वाधीनता संग्राम पर अपनी किताब 'हाफ़वे टू फ़्रीडम' में उन्होंने सुनील जाना के बारे में लिखा है.

सन् 1945 में उनके साथ करते हुए व्हाइट-बर्क इतना प्रभावित हुई कि दोनों की मैत्री उम्र भर बनी रही.

फ़ोटोग्राफ़र राम रहमान ने सन् 1998 में उनकी तीन सौ से ज्यादा तस्वीरों की एक प्रदर्शनी न्यूयार्क में लगाई थी – 'सुनील जाना: फ़ोटोग्राफ़िंग इंडिया 1942-78'. इस मौके पर छपी एक पुस्तिका में सुनील जाना के हवाले से उन्होंने एक दिलचस्प वाक्या बयान किया है, 'व्हाइट-बर्क जब दोबारा आई तो हम नोआखाली गए, कलकत्ता दंगे की तस्वीरें बनाईं. दंगे के दौरान ही वे मुझे एक मुस्लिम बहुल इलाके में ले गईं और कहा कि अगर पूछा गया तो वे मुझे अपना अमेरिकन ब्लैक साथी बता देंगी, और यह भी कि मैं खामोश रहूँ और बंगाली में कुछ न बोल बैठूँ.' बकौल सुनील जाना, 'व्हाइट-बर्क के साथ काम करते हुए मुझे हमेशा पछतावा होता था कि मैं सिर्फ़ फ़ोटोग्राफ़र हुआ जा रहा हूँ. जबकि मेरा आधा ध्यान तो पत्रकारिता की तरफ़ लगा रहता था. उन्होंने मुझे यह अहसास कराया कि तस्वीरों के ज़रिये भी उतनी ही प्रभावशाली बात कही जा सकती है. और मैं तो पहले से ही ऐसा कर रहा था, बस मुझे इसका अंदाज़ न था.' राम मानते हैं कि सुनील जाना दरअसल राजनीतिक कार्यकर्ता थे. वे घटनाओं से खुद को अलग रखकर दस्तावेज़ बनाने वाले फ़ोटोजर्नलिस्ट नहीं थे. उनका राजनीतिक कर्म ही असल में उनकी फ़ोटोग्राफ़ी थी.

उनके इस नज़रिये की पुष्टि सुनील जाना की ताउम्र बनी रही प्रतिबद्धता से की जा सकती है. वे कहते भी थे, 'उस दौर में हवा ही ऐसी थी, जब हर बुद्धिजीवी वामपंथी होता था.' सन् 1947 में कम्युनिस्ट पार्टी में पीसी जोशी को दरकिनार किए जाने के बाद सुनील जाना भी पार्टी से अलग होकर कलकत्ता लौट गए थे मगर वैचारिक रूप से वे हमेशा कम्युनिस्ट बने रहे. कलकत्ता में उन्होंने एक स्टुडियो खोला. सत्यजीत रे और चिदानंद दासगुप्त के साथ मिलकर कलकत्ता फ़िल्म सोसाइटी बनाई. सन् 1949 में आई तस्वीरों की उनकी पहली किताब 'द सेकेंड क्रिचर' सत्यजीत रे ने ही डिज़ाइन की. इस दूसरी पारी में उन्होंने शहरी मजदूर, गांव-देहात में खेतिहर-किसान, आदिवासियों का जीवन, उनकी परंपराएं, प्राचीन स्थापत्य और महत्वपूर्ण नृत्यांगनाओं की छवियां बनाईं. मशहूर मानव विज्ञानी वेरिएर एल्विन के साथ आदिवासियों के इलाके की उनकी यात्राओं की तस्वीरें हमारे समय में इस लिहाज़ से और महत्व की हो जाती हैं क्योंकि आदिवासी समाज की तमाम परंपराएं समय के साथ खत्म हो चुकी हैं. आदिवासियों की सरलता और निश्छलता उन्हें खूब मोहती. वे कहते कि उनकी दुनिया में होना शहरी ज़िंदगी की एकरसता और तमाम तरह के दुनियावी दबावों से मुक्ति का अहसास देता था.

बंगाल के साथ ही सुनील जाना ने उड़ीसा और आंध्र प्रदेश के अकाल प्रभावित क्षेत्रों में भी काम किया था. हजारों लोग मारे गए थे, शहर की गलियों से लेकर देहात में खेतों तक छितराई मृत देहों का मंज़र आम था. कितने ही लोग गंभीर बीमारियों से जूझ रहे थे. एक फ़ोटोग्राफ़र के नाते वे अपना काम पूरी लगन और तन्मयता से करते रहे मगर एक सृजनधर्मी कलाकार की स्वाभाविक संवेदनशीलता पर इसका गहरा असर पड़ा. आपदाग्रस्त इलाकों की तस्वीरें बनाने को लेकर बाद के दिनों में अरुचि का भाव शायद इसी नतीजा रहा होगा. यों हर परिस्थिति में कला बोध के प्रति सजगता ने उन्हें हमेशा शुद्धतावादी बनाए रखा. कैमरे में तस्वीर की कम्पोज़िशन भर से उन्हें संतोष न मिलता, अपनी तस्वीरों के प्रिंट भी वे खुद ही बनाते या फिर प्रिंट उनकी निगरानी में बनते.

उनकी तस्वीरें बनाने के क्रिस्से भी कम दिलचस्प नहीं. मसलन रेलगाड़ी में बनाई गांधी की तस्वीरों के

बारे में उन्होंने एक इंटरव्यू में बताया था, 'शिमला कांग्रेस में शरीक होने जा रहे गांधी तीसरे दर्जे के रिज़र्व डिब्बे में सवार थे और मुझे पूरी गाड़ी में कहीं जगह नहीं मिली. गाड़ी छूटने को थी और मैं बदहवास सा इधर से उधर दौड़कर जगह खोज रहा था कि मुझे गांधी के सेक्रेटरी प्यारेलाल दिखाई पड़ गए. मैंने उनसे आग्रह किया कि मुझे साथ लेते चलें. उन्होंने मुझे डिब्बे में बुला लिया मगर कैमरा देखते ही ताक्रीद की कि मैं फ्लैश न इस्तेमाल करूं क्योंकि वह गांधी जी को पसंद नहीं. तो बम्बई से शिमला तक मैंने उसी डिब्बे में सफ़र किया. गांधी जी की जितनी अच्छी तस्वीरें मैं बना सका हूं, उनमें सबसे बेहतरीन उस सफ़र के दौरान बनीं. वह यात्रा मेरी सबसे यादगार यात्राओं में एक है.'

फ़्लैश के बारे में भी एक मज़ेदार किस्सा है. वह फ़्लैश बल्ब का दौर था और ज़ाहिर है कि कम्युनिस्ट पार्टी के अख़बार का बजट इतना नहीं होता था कि सुनील जाना इफ़रात बल्ब इस्तेमाल कर सकें. मार्गरेट व्हाइट-बर्क के साथ ऐसी कोई दिक्कत नहीं थी. तो जब दोनों साथ काम कर रहे होते थे तो सुनील उनसे कह रखते थे कि वह अपना शटर दबाने को हों तो हाथ उठाकर इशारा कर दिया करें. जैसे ही व्हाइट-बर्क की फ़्लैश चमकती, सुनील फ़ोटो खींच लिया करते. वह यह भी कहते थे कि पतलून-कमीज़ पहनने वाली विदेशी महिला होने के नाते व्हाइट-बर्क अक्सर लोगों का ध्यान खींचती थीं और इस तरह उन्हें लोगों की ज्यादा सहज मुद्रा की तस्वीरें बनाने को मिल जाती थीं.

नेहरू की आनंद भवन में बनाई गई तस्वीर भी सुनील जाना की प्रदर्शनी के लिए तस्वीरें-निगेटिव जुटाते हुए राम रहमान को मिली. सन् 1939 में बनाई गई यह तस्वीर कहीं छपी नहीं थी. उन दिनों जब कम्युनिस्ट पार्टी भूमिगत रहकर काम कर रही थी, सुनील जाना को कई बार गुप्त संदेशवाहक की जिम्मेदारी भी मिल जाती. निर्दोष चेहरा और कम उम्र युवक पर आसानी से शक नहीं होता था. जवाहरलाल नेहरू को दस्तावेज़ पहुंचाने के लिए वे ट्रेन से इलाहाबाद जाते. ऐसे ही एक मौक़े पर जब नेहरू उन्हें आनंद भवन के बरामदे में मिले तो उन्होंने फ़ोटो खींचने की इजाज़त मांगी और नेहरू ने हां कर दी. यह नेहरू की बनाई उनकी शुरुआती तस्वीरों में से एक है. लंबे समय तक नेताओं और राजनीतिक जलसों की तस्वीरें खींचते रहने का उनका तजुर्बा था, 'यों भी किसी उन दिनों अख़बारनवीसों की बहुत भीड़ नहीं होती थी. और नेताओं तक पहुंचना मुश्किल हरगिज़ नहीं था. वे सबको पहचानते थे. फ़ोटो खींचने पर बल्कि वे खुश ही होते थे.'

कलकत्ते में रहते हुए सुनील जाना ने 'इण्डस्ट्रियल फ़ोटोग्राफ़र' के तौर पर काम किया, दक्षिण के मंदिरों के स्थापत्य और शिल्प की तस्वीरें बनाई और उन दिव्य शिल्प की विभिन्न नृत्य मुद्राओं से प्रभावित होकर उस दौर में भरतनाट्यम की ख्यात नृत्यांगनाओं शांता राव और इंद्राणी रहमान की तस्वीरें भी बनाई. कोणार्क और भुवनेश्वर के मंदिरों की उनकी मशहूर तस्वीरों के बारे में राम रहमान ने लिखा है कि 'मार्ग' पत्रिका के साथ ही कई और पत्र-पत्रिकाओं ने ये तस्वीरें सुनील जाना के क्रेडिट के बिना ही छपीं और उन्हें इसका कोई मुआवज़ा भी नहीं दिया. इन तस्वीरों ने हिन्दुस्तानियों की एक पूरी पीढ़ी को उन मंदिरों के शास्त्रीय पक्ष को समझने में मदद की और आइकन बन गईं. पर सुनील जाना ने इसके लिए 'मार्ग' के संस्थापक सम्पादक मुल्कराज आनंद को कभी माफ़ नहीं किया.

आदिवासियों की सुनील जाना की तस्वीरों को सराहना खूब मिली मगर आलोचना भी कम नहीं हुई. खासतौर पर आदिवासी महिलाओं की वे तस्वीरें जिसमें उनके बदन का ऊपरी हिस्सा अनावृत है.

हालांकि खुद सुनील जाना और दीगर लोग आदिवासी जीवन, उनकी परंपराओं और ज़रूरतों के साथ ही मुगलों-अंग्रेजों की थोपी हुई सोच और सभ्यता के बदले हुए पैमानों का हवाला देकर ऐसी आलोचनाओं को खारिज करते आए हैं मगर नैतिकता-मर्यादा के खिलाफ़ आचरण के आरोपों से उनकी ये तस्वीरें कभी बरी नहीं हो पाईं. बर्कले में 21 जून 2012 को सुनील जाना के निधन के बाद फ़ोटोग्राफ़र-क्यूरेटर सतीश शर्मा के ब्लॉग पर 23 जून को दर्ज़ एक पोस्ट पर ग़ौर किया जा सकता है. उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता का हवाला देते हुए सतीश शर्मा ने लिखा है कि स्त्रियों को, खासतौर पर आदिवासी महिलाओं को देखते वक़्त उनके पुरुषवादी नज़रिये में मार्क्सवाद की झलक तक नहीं मिलती. उनकी किताब 'द सेकेंड क्रिचर' से एक क्वेश्चन का ज़िक्र किया है – 'मैंने यह फ़ोटो 'लो एंगिल' से बनाई ताकि उसकी खूबियों को समेट सकूं.' सतीश शर्मा ने वह फ़ोटो लगाते हुए निष्कर्ष दिया है – मगर 'लो एंगिल' ने उसके वक्ष को ही उभारने में मदद की. लिखा कि सुनील जाना ने सिर्फ़ आदिवासी महिलाओं के न्यूड फ़ोटो नहीं बनाए, मध्यवर्गीय महिला मित्रों के भी न्यूड बनाए. मित्रों को अलबत्ता यह भरोसा दिया कि उनकी ज़िंदगी में ये तस्वीरें न कहीं छपेंगी और न ही किसी को दिखाई जाएंगी. आदिवासी महिलाओं को उन्होंने इस तरह के किसी अधिकार से भी वंचित रखा.

सन् 1987 में प्रभु गुप्तारा से बातचीत में सुनील जाना ने इस मसले पर कहा था कि 'प्रगतिशील तबके' की ऐसी सोच में यह पाखंड इस्लाम और विक्टोरियन साम्राज्यवादियों की 'नैतिकता' का असर है. उन्होंने भारत के कुछ ग्राम्य अंचलों में महिलाओं के इस तरह अनावृत रहने की परंपरा का तर्क भी दिया था. राम रहमान याद करते हैं कि आदिवासी महिलाओं की तस्वीरों पर 'विक्टोरियन सेंसरशिप' के चलते सुनील जाना अक्सर मुश्किल में पड़ जाते थे. जब उनकी डॉक्टर पत्नी को लंदन में नौकरी मिली और वे हिन्दुस्तान से जाने लगे तो इन्हीं तस्वीरों को लेकर भारतीय कस्टम अधिकारियों के ऐतराज़ पर फिर झमेला हुआ था. उनकी तस्वीरों की शैली को राम ने 'हीरोइक लेफ़्ट' मोड कहा है. 'लो एंगिल' से बनाई गई तस्वीर सब्जेक्ट में खास तरह का मिथकीय तत्व जोड़ रहा होता है. और इस बारे में पूछने पर सुनील जाना का जवाब था कि यह तत्व दरअसल रोलीफ़्लेक्स की देन है, जिसके व्यूफ़ाइंडर में झांकने के लिए उसे नीचे से ऊपर की ओर रखना होता है.

फ़ोटोग्राफ़ी में उनके योगदान के लिए 1972 में सुनील जाना को पद्मश्री से सम्मानित किया गया. हैरत की बात यह कि सन् 2012 में उन्हें फिर से पद्मश्री देने की घोषणा हुई. ग़लती पकड़ में आई तो संशोधन करके उनका नाम पद्मभूषण विजेताओं में शुमार किया गया. हालांकि उनके रहते उन्हें यह सम्मान नहीं दिया जा सका.

साभार – <https://satyagrah.scroll.in/> से